ग्रामग[illegible]

लाती थी नीर नित्य सरवर से सिर पर धर,
घण्टों तक घाटों पर नित्य प्रति बैठ बैठ,
भाग भाग बड़बण्टे बड़ के उठा उठा,
अब तक वह खाती थी शैशव प्रमोद साथ।

—श्री कैलाशचन्द्र 'पीयूष'

ग्रामबाला

लाती थी नीर नित्य सरवर से सिर पर धर,
घण्टों तक घाटों पर नित्य प्रति बैठ बैठ,
भाग भाग बड़बण्टे बड़ के उठा उठा,
अब तक वह खाती थी शैशव प्रमोद साथ।

—श्री कैलाशचन्द्र 'पीयूष'

उपन्यास-साहित्य में एक नई और अनोखी चीज़ !
समाज में क्रान्ति मचा देने वाली एक आँधी !!
मानवीकोप एवं दैवीकोप को सहने वाले कृषकों की गाथा !!!
समाज द्वारा अवहेलितों की एक अमर कहानी !!!!

उपन्यास

रोटी [एक समस्या]

लेखक—श्री बनारसीदत्त शर्मा 'सेवक' साहित्यरत्न

फटे से मैले कुचैले कपड़ों में लिपटे उस भिखारी की, और उस पर दया करने वाले उस दाता की, उस फूँस की टूटी हुई झोंपड़ी में रहने वाले उस ग़रीब की, और मज़दूर की हड्डी पसलियों पर खड़े उस आलीशान महल में रहने वाले उस रईस की, समाज पर अट्टहास करने वाली तथा रूप की दुकान सजाकर बैठने वाली उस वेश्या की, और दिन भर गारा ढोने वाली उस मज़दूरिन की, सबकी एक ही इच्छा है, एक ही चाह है और एक ही ख्वाहिश है कि उन्हें रोटी मिले। रोटी के लिए ही वे जीते हैं और रोटी के लिए ही मरते भी हैं।

यही एक समस्या लेकर लेखक ने कलम उठाई है, इसमें क्या है यही तो पढ़ना है। इस समस्या में लेखक पूरी तरह उलझ जाता है। यह एक कहानी है। सेवक जी की लेखनी द्वारा निकला हुआ यह उपन्यास एक नये ढङ्ग की चीज़ है। सेवक जी की भाषा में एक नवीनता है और उनके कहने का ढङ्ग एक अनोखापन लिए है। जो पढ़ते ही बनता है। सेवक जी जो कुछ कहना चाहते हैं उसकी एक तस्वीर बनाकर सामने खड़ी कर देते हैं।

इस अनोखी चीज़ का गेटअप भी नया और अनोखा ही होगा। शीघ्र ही पाठकों की भेंट किया जायेगा।

प्रकाशक—
श्री भारती-निकेतन
बल्लीमारान, देहली।
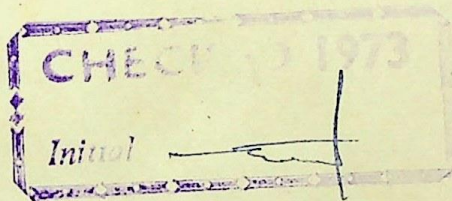
ग्रामबाला
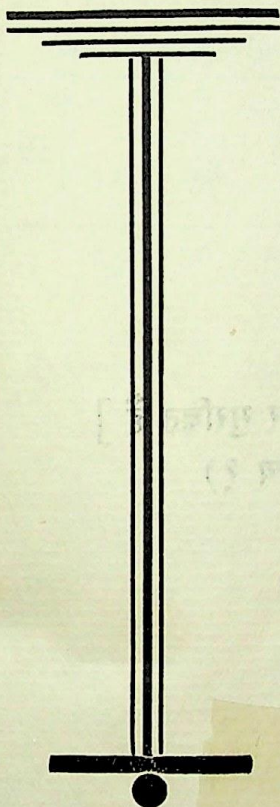
रचियता—
श्री० कैलाशचन्द्र 'पीयूष'

पहली बार] १९४१ [१०००
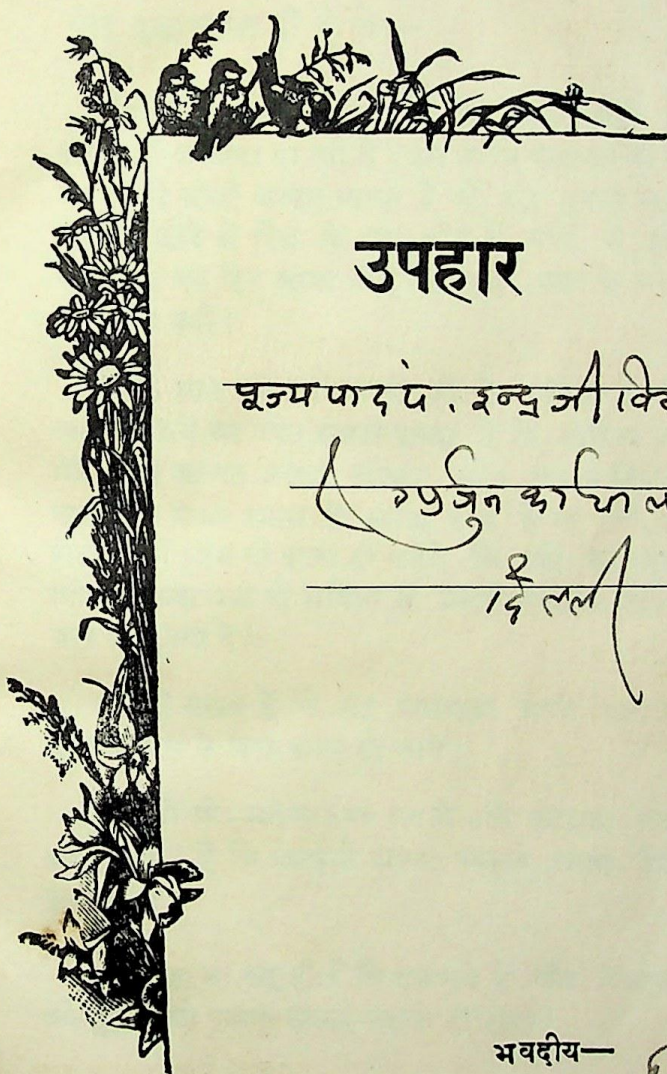
उपहार
पूज्यपाद पं. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति
अर्जुन कार्यालय
देहली
भवदीय—

यदि कुछ कहना ही है तो--

यही कि 'पीयूष' से कलाकार को सामने लाते हुये आज हमें प्रसन्नता हो रही है। इस नवीन कलाकार की यह वह भोली भाली अल्हड़ ग्राम्या है जो इस दुबली पतली छाया के छोटे से दिल के एक कोने में वर्षों से प्रश्रय पाये थी। एक दिन आया और यह सुन्दर कला के रूप में बाहर फूट पड़ी।

और, आज हम इसे भारती मां के मन्दिर में भेंट स्वरूप चढ़ाने आ गये। हमारी इच्छा है कि साहित्य प्रेमी भारती मां का यह प्रसाद स्वीकार करें। भारती-निकेतन अपने इस प्रथम प्रयास में सफल हुआ है या नहीं, यह पाठक जानें। हम तो इतना ही कहेंगे कि यदि यह प्रसाद स्वीकार किया गया तो भविष्य में भारती-निकेतन और न जाने क्या क्या दे।

हम तो मनाते हैं कि यह ग्रामबाला अपने कलाकार के साथ सदा के लिये अमर हो जाय।

अन्त में प्रो० नगेन्द्र एम० ए० के प्रति कृतज्ञता प्रगट करना चाहते हैं कि जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर कुछ लिखा।

और यह भी कह ही दें कि हम नये हैं और बिलकुल नये बुजुर्गों को हमारा उत्साह बढ़ाना ही होगा।

श्री भारती निकेतन
बल्लीमारान, दिल्ली।

उसही आहत हृदया को

—'पीयूष'

एक दृष्टि !

ग्राम भारत की जन-सत्ता का प्रकृत आवास है। ग्राम्य जीवन की सरलता और पवित्रता ने तो हमारे कवि को अबसे बहुत पहिले ही आकृष्ट कर लिया था, परन्तु आज जिस दृष्टिकोण को लेकर वह गाँव की ओर जा रहा है वह सर्वथा भिन्न है। आज वह समाज-शास्त्र को लेकर, ग्राम्य जीवन का आलोचक बन कर, जाता है। उसकी सहानुभूति सहज रमने वाली न हो कर बौद्धिक है।

प्रस्तुत पुस्तक के मूल में चाहे उपर्युक्त चेतना का बढ़ता हुआ आकर्षण रहा हो ('ग्राम्या' की लोक-प्रियता का उससे थोड़ा बहुत सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा।) परन्तु लेखक का दृष्टिकोण आलोचनात्मक नहीं है। 'ग्राम बाला' के जीवन की सामाजिक मूल-समस्या का विश्लेषण करने योग्य क्षमता उसमें नहीं है। वह अभी भावुक युवक है, जिसके मन में यौवन का आकर्षण और आँखों में रूप रंग की खोज है।

'ग्राम बाला' काव्य-बद्ध कहानी है। उसमें दो पात्र हैं, नर्बदा और सम्मन। जीवन से स्पंदित होने पर भी इनका अपना पृथक व्यक्तित्व नहीं है। वे तो नारी और पुरुष भावना के प्रतीक हैं, और उन में जो जीवन है वह उनका अभुक्त यौवन ही है।

कवि ने नरबो को नारी का प्रकृत रूप दिया है—

चढ़ कर जब डाँचे पर,
"हुई हुई" करके वह,
गोफिया फिराती तो—
छा जाती थी अपूर्व लालिमा सुबाला के,
सुगठित, विशाल, मञ्जु, मटमैले अङ्ग में।

"चर्र मर्र" कर उठता सहसा मच्चान सभी
पक्षी उड़ जाते थे
तज कर निज मुख ग्रास
हो करके भय-ग्रसित
फड़ फड़ा पक्ष युग्म
वियत व्योम मध्य
लोल मारुत की लहरों में
तन का समतोल बना
दूर किसी अन्य ओर
छूने को क्षितिज-छोर।

वह कामनामयी है। अपने यौवन-विकास की ओर उदासीन होने पर भी उसमें स्त्रीत्व का अभिमान है, वह नारी के यौवन को एक पवित्र धरोहर मानती है। इसलिए 'सम्मन' के असंयम को वह सहन नहीं कर सकती और अत्यन्त तीखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करती है; किंतु नारी का अभिमान एक क्षणिक आवेग है। पुरुष की एक ठन्डी उपेक्षा-दृष्टि उसको गला देने के लिए काफ़ी है। उसकी स्थायी संपत्ति तो है उसका आत्म-समर्पण और हम देखते हैं कि—

अचल-चित्त बाला वह
बढ़ती ही जाती थी,
देने को भेंट आज अपने शरीर की।

सम्मन पुरुष है, अनगढ़ पौरुष उसके शरीर में फूट रहा है। उसकी पहलवानी इस पौरुष की एक अभिव्यक्ति मात्र हैं—

खड़ा था छाती के
तान वह कपाट आज,
संभव है छिन्न-भिन्न
भूधर हों टकरा कर,
हड्डियाँ न थीं वे,
थीं लोह की शलाकाएँ,

भाल था विशाल, लाल
नेत्र युग उसके थे।

उसमें पुरुषत्व का अहम् है, उपेक्षा का उत्तर उपेक्षा से देने की शक्ति है जो नारी को उसके चरणों में खींच लाने के लिए पर्य्याप्त है। इन दोनों पात्रों के बीच काम का सहज आकर्षण है। समाज के प्रतिबन्ध और उससे उत्पन्न मानसिक निरोध इस आकर्षण के पुञ्जीभूत होने में सहायता देते हैं। पहला और अन्तिम मिलन उसको तीव्र करता है। ठीक इसी समय समाज उन दोनों के बीच एक तीसरे व्यक्ति को खड़ा कर देता है, जो दोनों प्रवाहों को चीर कर सदा के लिए वियुक्त कर देता है। नरबो को अपनी आशाएँ और अभिलाषाएँ इसी व्यक्ति पर केन्द्रित करनी पड़ती हैं। यह उसके जीवन की विषमता है। कवि ने इसका अत्यंत निमर्म चित्र खींचा है। इधर, सम्मन जंगल में बैठा प्रणय-जीवन की समस्या सुलझा रहा है—उसकी विचार-धारा वेदना से एक स्वर हो कर दर्द भरे गीत में फूट उठती है, इधर नरबो की बरात जा रही है—

दूर उस पथ पर
जाती थी बरात एक
दुलहिन को लेकर के
स्यंदन में बन्द कर।

हारी सी,
खोई सी,
उस रथ में नर्बदा
बैठी थी चरण तल में
अपने शरीर और प्राणों के स्वामी के,
उनहीं के हाथों में
भाग्य-डोर सौंप अपनी।

× × ×

इतने ही में—

सहसा वह कातर ध्वनि,
वेदना प्रपूर्ण स्वर
सम्मन के गाने का,
आया द्रुत कानों में
मारुत को चीरता।

× × ×

बस—

सुन कर वह करुण ध्वनि
शांत रह सकी न तनिक,
फूट फूट रोने लगी

बाला वह ज़ोर से
घुटनों में शीश छुपा।

और—

और................
वे प्राण नाथ;
हाथ फेर पीठ पर,
कहते थे—
"बस करो, बस करो !
रहने दो, रहने दो !"

× × ×

यही आज के युवक-जीवन की विषमता है। इसमें नरवो और सम्मन उपलक्ष मात्र हैं। मेरे मन में ऐसा आता है कि यह विषमता हमारे जीवन की शाश्वत विषमता है, इसी को तो संजोने के लिये मानव-समाज ने एक पत्नीव्रत और पातिव्रत पर इतना ज़ोर दिया है।

'पीयूष' जी ने इस विषमता को अपनी मेधा और अनुभव के अनुसार पर्य्याप्त स्वच्छता से ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। परन्तु, जैसा मैंने निवेदन किया, उनका बौद्धिक विकास अभी होने को है, अतः उसमें एकाध असंगति देख कर आप चकित न हों। मालती को देख

कर सम्मन का भाग जाना शायद आपको मेरी तरह अच्छा न लगे।

कहानी की रूप-रेखा बड़ी सरल है, उसमें घटना की कोई नवीनता नहीं है। परन्तु उसमें एक तीव्र गति है जो आरम्भ से लेकर अन्त तक कहानी की रोचकता को बनाये रखती है। गति की इस तीव्रता के लिए उत्तरदायी है। कहानी की मूल-भावना—यौवन का आकर्षण और यही कवि की अपनी शक्ति भी है, जिसने उसके वर्णन में सर्वत्र जीवन फूँक दिया है। यह वर्णन दो प्रकार के चित्रों में हो कर बढ़ता है। वस्तु-चित्र और भाव-चित्र, और दोनों ही आकर्षक एवं सजीव हैं—

(१) "टनन टनन" बजती थीं,
घण्टियाँ गलों में बँधी,
"घरन घरन" घूमते थे,
रथ के सुचारु चक्र—

किंतु कहीं द्रुत गति से,
दुगने ही वेग से,
घूमता था नियति-चक्र,
सरल, सौम्य, स्नेहमयी,
नर्बदा सुग्राम्या का

नीरव,
निस्तब्ध,
और
बिना
किसी आहट के।

× × ×

(२) आकर आवेग में
उसने जब विस्मृत हो,
गूढ़ आलिङ्गन किया
सुभग ग्राम्य बाला का—
विद्युत सी दौड़ गई,
उसके तन मध्य तुरत
अश्लथ कुच फड़क उठे,
तड़क उठे अस्थि-जोड़,
दौड़ गई रक्त की
लालिमा कपोलों पर,
मादकता पूर्ण हुए,
उसके युग सजल नैन।

इन चित्रों में लेखक ने ग्राम-वातावरण का भी यत्र तत्र सफल अंकन किया है। अखाड़े का दृश्य देखिये।

परन्तु ऐसे प्रसङ्गों में प्रायः उसकी भाषा उसका साथ नहीं दे सकी। गरसींडे और बड़बंटे चुनने वाली नरवो और उसकी सहेली जब शुद्ध संस्कृत भाषा में मनोवैज्ञानिक वक्तृता देने लगती हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि में अभी वस्तु के निबाहने की शक्ति नहीं आ सकी। सचमुच 'पीयूष' जी की प्रतिभा अभी थोड़ी अपरिष्कृत है (raw) है, इसी लिये उनकी भाषा और छंद-प्रवाह में कहीं-कहीं संस्कार का अभाव दिखाई देता है। परन्तु कवित्व का प्राचुर्य्य ग्राम-बाला में है।

अंत में शुभ कामनाएँ अथवा आशीर्वाद प्रदान करने योग्य न तो मेरी अवस्था ही है, और न शायद मेरा आशीर्वाद ही फलीभूत हो, परन्तु इतना निवेदन अवश्य करदूँ कि यह पुस्तक मुझे अच्छी लगी और मेरा मन इसमें काफ़ी रमा। मुझे आशा है कि आप भी मुझसे सहमत हो सकेंगे।

अंग्रेज़ी विभाग,
कमर्शियल कॉलिज,
दिल्ली।

प्रो० नगेन्द्र एम० ए०

क्या कविता रचूँ
हे भारती माँ ?
उस गांव की भोली बालिका पर,
स्नेह-सिक्ता महा
पर सलज्जा घनी
प्राकृतिक पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति सी—

व्यक्त कैसे करूँ मैं बता तू उसे
मोड़ कर तोड़ कर मञ्जु भाषा बना
पद्य या छन्द के बन्ध में बांध कर ?

है विनय बस यही दो मुझे भी वही
काव्य-प्रतिभा अकृत्रिम, सहज, प्राकृतिक,
ताकि कुछ कुछ सफल आज चित्रण करूँ
उस सरल स्नेह सौहार्दिनी बाल का।

लालसा है हृदय में यही भारती !
ढारती धार 'पीयूष' की शारदे !
चित्र सा खेंचती शब्द-अवली चले,
तीर सी चीरती काव्य-धारा बहे।

अल्हड़ थी, चञ्चल थी,
थी पर अबोध निरी
यौवन का आगमन उसको प्रतीत था न।
चुगती गरसींडे वह अब तक थी डोलती
गोबर की चोथी पर झगड़े भी ठानती
मानती न कहना थी
नटखट थी सिर चढ़ी।

लाती थी नीर नित्य सरवर से सिर पर धर
नित्य प्रति घाटों पर घण्टों तक बैठ बैठ,
भाग भाग बड़बण्टे बड़ के उठा उठा
अब तक वह खाती थी शैशव प्रमोद साथ।

दीखती कभी थी एक
गागर पुरानी सी,
रूही सी, जर्जर सी,
बूफन से लिप्त, गली,
उसके कर युग्म में।

कभी दृष्टि आती थी
गोबर-परात एक
टूटी सी, फूटी सी, छिद्र युक्त, पतरी जड़ी,
मिट्टी से युक्त युग्म हाथों में बाल के।

या कभी आती थी संटी ही दृष्टि एक
हांकती पशुओं को शासन का गौरव ले।

चढ़ कर जब डौंचे पर "हुई हुई" करके वह
गोफिया फिराती तो—
छा जाती थी अपूर्व लालिमा सुबाला के
सुगठित, विशाल, मञ्जु, मटमैले अङ्ग में।
"चर्र मर्र" कर उठता सहसा मञ्चान सभी
पत्ती उड़ जाते थे
तज कर निज मुख ग्रास
हो करके भय-ग्रसित
फड़ फड़ा पत्त युग्म
वियत व्योम मध्य
लोल मारुत की लहरों में

तन का समतोल बना दूर किसी अन्य ओर
छूने को क्षितिज-छोर ।

रक्त वर्ण रेजी की घाघरी व कब्जा ही
उसके उन अङ्गों को ढकते थे शक्ति लगा
जो कि नित्य नित्य प्रति विकसित ही होते थे
अनजाने भूरि भार यौवन का ले ले कर
भर भर कर नव उमङ्ग
अङ्ग प्रगट होते थे।

नित्य प्रति कुलिश से कठोर घने, युग्मस्तन
होते ही जाते थे,
किन्तु ध्यान देती थी उनके प्रति नर्वदा न।

धोने की वस्त्रों को चिंता नहीं थी उसे
रहती थी मस्त वह
सदैव उन्हीं मैल भरे
रेणु कण पूरित, भर भूंट युक्त वस्त्रों में।

कोई वृद्ध पुरुष यदि
चरचा चलाता कभी
व्याह या कि शादी का
"भूंथरली" "मन मगरी" सुन्दर सम्बोधन दे ।

तब न बोलती थी वह
प्रत्युत झट भाग जाती
अपने युग होंट दिखा

कुञ्चित कर भ्रू-ललाट,
नीचे कर सरल नैन,
आनन पर रोष ला।

किंतु जब कोई युवक
दोहराता वही प्रश्न
लड़ने को उद्यत
रणचण्डी बन जाती वह
बाप और दादा को साथ में लपेटती थी
झेंपता युवक था पर—
हँस देता प्रगट में।

शनैः शनैः शैशव से लड़ लड़ कर यौवन ने
क्रमशः प्रवेश किया नरवो के अङ्गों में
विकसित सुवाल हुई
किसी वन्य कलिका सी
सरल सौम्य सुन्दरता पूरित बन-बाला सी
रस लोलुप भ्रमरों के मन को तरसाने को ।

अब न उसे देर लगती
गोबर के ढोने में
झगड़े की नौबत भी
आती नहीं थी अब
क्योंकि अन्य ग्वाले सब
चाहते यही थे नित

उनका वह गोबर ले केवल बस
नरबो ही।

प्रेम उसे करते थे
अपने अन्तस्तल से
और दिखा सकते थे
यह ही सहानुभूति—

कि ले जाये चाहे जितना भी गोबर वह
उठवाले गागर को दिन में पचास बार
अब न उसे ताल-तीर ठहरना जरूरी है।

करनी प्रतीक्षा
गोबर उठवाने की
पड़ती अब उसको थी न।

पर यह परिवर्तन क्यों ?
जान वह सकी न तनिक।

अवदात मना बाला वह
गांव की कुमारी थी
विस्तृत थे सरल नैन
सुगठित अङ्गांग मञ्जु—
गौर युग कपोलों पर
स्वास्थ्य-लालिमा भी थी—
नाचती थिरकती नित
सुघड़ ग्राम्य-बाला के।

भरे हुए हाथ पैर
मृदुल गढ़ी गोल बांह
मञ्जुल अति गौर वर्ण
किंतु धूलि धूसरित
उसका शरीर निरख
रज-कण में हीरे सी
गूदड़ में लाल सी
कीचड़ में पद्म सी
शाद्वल सी मरुस्थल में
भ्रांति नित्य होती थी
रस लोलुप भ्रमरों को
मण्डराते रहते थे
जो उसके आस पास
चाहते बनाना थे
जो उसको प्रणय-केन्द्र
जीवन का खेल जो कि
खेलना चाहते थे
प्यासे थे नर्वदा-
आनन-अरविन्द-
द्रवित-मञ्जुल-मकरन्द के ।

किंतु ध्यान देती थी इनके प्रति नर्वदा न
बात भी न करती थी इनसे वह भूल कर
क्योंकि कहा माता ने कुछ ही तो दिवस गये
वरज दिया लड़कों के संग खेल खेलना ।

ठेलना पड़ेगा क्या जीवन अब इसी भाँति
सोचती यही थी वह हो हो कर व्यग्र-चित्त।

सहसा परिवर्तन के
जीवन में आने से
पाने से रोक प्रबल अपने उस जीवन में
जिसमें वह मस्त थी व्यस्त थी तरङ्गों में
अप्रतिहत सरिता-वत
बहती ही जाती थी
नर्वदा सुग्राम्या के चित की शुभ चाहना।

माँ यह क्यों कहती है ?
खेलूं अब संग मैं न
उनके ही साथ, जिनके
खेलती रही हूँ नित
वे ही क्या अन्य हुए ?
और हुए ?
गैर हुए ?
जो कल सब अपने थे
भाई थे, बंधू थे, साथी थे सुख दुख के।

पर यह परिवर्तन क्यों ?
वाधक स्वतन्त्रता का
गर्हित परतन्त्राता का
दूषित नियंत्रण क्यों ?

'पीयूष'

सरल मना बाला वह
नूतन कपोती सी
पिंजरे में जो कि कहीं सम्प्रति ही बन्दी हो
तड़फड़ाती थी वह—
तजने को सदन-भित्ति
पाने को स्वच्छ वायु
विस्तृत वसुंधरा की।

खेलने को ताल-तीर
उसका मन चलता था
दौड़ने की खेतों में उठती हिलोरें थीं
किंतु दबा लेती थी
उनको वह श्वांस मार
नारी का जीवन ही सहने को दुःख है।

बीते हैं तीन दिवस आई पर नर्वदा न
गोबर का डिग्ग लगा कोने में सड़ता था
बैठा था सम्मनिया
म्लान मना चिंतित सा,
चकित सा, भ्रमित सा था सोच रहा बैठा वह—

आती क्यों नहीं है अब नरबो दिनी तीन से
लेने को गोबर और करने को मधुर बात ।

जीवन में प्रथम बार
उसको इस पीड़ा ने
आकर था व्यथित किया।

टीस सी अंतर में उठती थी बार बार
उसके—जिसको न कभी
छूआ अभाव ने था न
जो न जानता था कब
होता है उदय-अस्त
भानु गगन-प्राङ्गण में

काम नहीं पड़ता था
करना सम्मनिया को
बाबा थे उसके पांच गांवों के लंबरदार
खेती थी उनके ही सब घर से अधिक और
बैलों की जोटें थीं
उस घर में चार चार

रथ, बहली, ऊंट आदि सब ही थे उन के कुछ
गायें थी सात सात
भैंसें थी तीन तीन।
खूब दूध पीता था छिक कर वह रात दिन
करना विनोद ही उस का बस कार्य था।

जाता जब प्रात समय चढ़ कर वह ऊंट पर
देख कर लजाते थे उसको सरदार सभी।

अस्फुट ही यौवन था
किंतु शक्ति अतुलित थी
बैठता धरा पर था भैंसा खा डुक एक।

देख देख उसको नित
चाचा खुश होते थे

कहते थे "पीये जा, खाये जा, दूध घी"
अब के मेले में बस लङ्गर हिला देना
जोट का न निकले कोई
साहस तक करे न कोई
लड़ने का तुझ से
बस इच्छा है शेष यही।

और वह दिन भी तो था न अधिक दूरी पर
केवल बस तीन ही दिन का तो अन्तर था
मंथर था किंतु आज उसका हृदय स्पन्दन
चित्त था उदास
म्लान मन था तन तेज हीन
शक्ति हीनता सी कुछ
अनुभव वह करता था।

डरता था मन ही मन करते व्यायाम आज
श्वांस दीर्घ भरता था
बैठा ही बैठा वह
या कभी इधर उधर
घूम घाम लेता था।

आई क्यों नर्बदा न
लेने को गोबर तक,
भूल गई क्या वह निज दैनिक दिनचर्या भी
रह रह कर मन ही मन यही प्रश्न उठता था।

चलूँ, आज पूछूँ, मैं चाची से जाकर के
(चाची ही कहता था नरबो की माँ को वह)
कैसी है नर्बदा ?
आती क्यों नहीं है अब ?

और पुनः चलने को सत्वर तैयार हुआ
दुस्सह थी उसको अति
अनुपस्थिति बाल की
त्याग निज मुगदरादि जैसे के तैसे ही
था वह लालायित अति मिलने को नरबो से ।

स्नेह था अपार उसे
चाहता उसे था वह
प्राण के समान ही
उद्यत था उसके हित
सब कुछ वह करने को
लड़ने को काल से भी यदि आये सामने ।

और नर्बदा भी उसे
करती थी प्रेम अमित
चाहती उसे ही थी अधिक सभी युवकों में ।

हृदयों में दोनों के जलती थी एक ज्वाला
किंतु उसे अभिव्यञ्जित अब तक था नहीं किया

सम्मन ने कई बार चाहा
मैं हृदय खोल-
धरदूँ और कहदूँ—

"प्रिय ! प्राणाधिक ! प्रियतम !"
और सुनूँ एक बार "प्रीतम" का शब्द मधुर
उसके युग होटों से।

किंतु चाह अन्तर की
अभिव्यञ्जित करने में
डरता था भीरु चित्त सम्मन का सोच यह कि
आम्ल तक्र से भी कर प्रक्षालित हों न कहीं।

बहुत बार साहस कर
उसने पुकारा उसे
किंतु पास आने पर साहस गत होता था
और पूंछ लेता था बात टालने को वह
कैसी है चाची ? या गायों का हाल कभी
उजरी कब ब्यावेगी ?
चौंरी के क्या हुआ ?
ऐसे ही प्रश्न अन्य पूछ लिया करता था।
और नर्वदा की भी
ऐसी ही गति थी कुछ
आकर्षण होता था
दिन दिन प्रति अधिकाधिक।

किंतु समझ सकती थी
कारण वह बाल नहीं
चाहती हृदय से थी
साथ सदा रहना वह
अपने प्रिय सम्मन के।

इसी भांति बीत गये
दिवस और मास कई,
कोई भी न करता था
प्रगट बात अंतर की।

आज जब सह सकी बाला
विरहाग्नि को न,
घर से वह शौच आदि
निवृति का नाम ले,
सम्मन के घर के प्रति
लोटा ले चल दी वह,
मन में अनुराग लिए—
अंतर में वेदना,
आनन पर किञ्चित कुछ
भाव हर्ष के से ले,
जाती थी बाला वह
सम्मन से मिलने को।

यद्यपि कुछ दूर नहीं
था निवास सम्मन का,
मन मन का किंतु आज
पैर हुआ नरबो का
कोसों की दूरी वह उसको प्रतीत हुई।

चाहती जाना थी उड़ कर वह पक्ष लगा
बैठ या कि मारुत के झोकों पर सम्भव यदि
किंतु पूर्ण होतीं क्या मन की सब चाहना ?

दौड़ भी न सकती थी
क्योंकि पूछले आ यदि
कोई, "क्यों भागती है" ?
तब क्या कहेगी वह ?
क्रीड़ा को व्रीड़ा ने उसकी दबाया था।

प्राची में अरुण अंशु माली था झांक रहा
आज हुआ लज्जावश वह भी क्या रक्त वर्ण ?
डर डर कर अवनी के आंचल पर क्रम क्रम से
हाथ डालता था वह, पुलकित थी धरित्री

निरख कर प्रेमालाप
सूर्य और पृथ्वी का,
सटक गये तारक-वृन्द
बंद कर नयनों को
पक्षीगण गाते थे पुलकित विरुदावली।

प्रकृति कोष मुक्ता का
उन पर थी वारती,
आरती गाते थे
भ्रमर-निकर "गुन गुन" कर।

अरुण-अवनि-संगम की
प्रारम्भिक बेला में
बाला भी जाती थी
करने अठखेलियां
अपने उस साथी से,
जिसको वह चाहती थी
अन्तर अन्तस्तल से
चित्त से हृदय से पूर्ण।

नयनों में नेह भरे
सजल-नयन-वदना ने
देखा—
था पथ पर ही सम्मनिया आ रहा।

कांति हीन मुख मण्डल
विस्मृत सा, खोया सा, दीख पड़ा—
व्यग्र चित्त, हारा सा. आशा—
विनिमज्जित सा, लज्जित सा, भ्रांत सा।

सम्मन ने आंखें निज
पथ के प्रति फेरीं तो,
देखा समक्ष खड़ी————
उसकी आशाश्रय थी,
कर में ले सलिल-पात्र,
मुख पर ले मन्द हास्य,
नयनों में स्नेह-सिक्त
कतिपय सुधा-कण ले।

बोल ही सके वे कुछ
देर तक न आपस में
तोड़ी पुनि सम्मन ने आखिर निस्तब्धता।

"देख सड़ रहा है यह
गोबर का ढेर यहां
काम भी न आया यह किसी अन्य प्राणी के,
कह देती मुझको तो देता मैं अन्य को ही।"

नरबो को आशा थी,
सम्मनिया देखते ही
होगा प्रसन्न खूब खातिर करेगा मेरी।

किंतु भाव ताने के देख दुखित होकर वह
बोली—"हां दे देना मन चाहे जिसको यह
सम्पति विशाल अपनी,
अब न आ सकूंगी मैं।"

और तनिक देर ठहर
बोली पुनि बाला वह,
"मां मुझसे कहती है
"बालक रही न, हुई अब मैं सयानी हूँ"
किंतु क्या बात ठीक तुमको भी जँचती है ?
बोलो ! बतलाओ !
क्या मुझमें है नई बात
तुम भी तो देखते हो मुझको नित्य, नित्यप्रति"।

"हँसते हो !
अच्छा तो हँसते ही रहना अब
जाती हूँ,
आई थी मैं तो पथ भूल इधर।"

ऐसा कह बाला वह
उलटी ही चलदी पुनि,
देखता रहा वह यह

विस्फुरित नेत्रों से,
भोलापन, सरल चित्त
नर्बदा सुग्राम्या का ।

चाहता उसे था वह
रोकना,
न रोक सका,
टोक भी सका न वह
जाती को आज तनिक,
जाने किस शक्ती ने रोका आ जिह्वा को ।

रह गया हतप्रभ सा,
अचल एक प्रस्तर सा,
नीरव, निस्पन्द खड़ा
पथ पर ही युवक धीर
विस्मृत सा, खोया सा ।

अनुभव वह रहा था कर
कि जाती है नर्बदा न,
किंतु हृदय जाता है
उसका सुदूर दूर
त्याग वक्ष-प्राचीरें ।

सम्मन की शक्तियां
सहसा विलीन हुईं
चाहता नहीं था वह
लड़ना अब मेले में ।

ख्याति प्राप्त करके ही
होगा क्या उसका अब
पूर्ण कर सका वह जब
लघुतम सी चाह भी न।

अवहेलित, अपमानित,
तिरस्कार पूर्ण जीवन
मानव के लिए एक—
भार है, जघन्यतम है,
त्याज्य है, विगर्हित है,
कौन भला चाहेगा ऐसे पुनि जीवन को ?

श्रांत था अशांत चित्त,
था नितांत म्लान मना
आज वह जायेगा
खेतों में घूमने न।

ऊंट पर चढ़ेगा नहीं,
दूध भी न पीयेगा,
करना व्यायाम उसे भार रूप आज हुआ

आज चाहता है वह
जाकर एकान्त में
रोए दृगम्बु डार
खोने को हृदयभार।

नखो भी शांत थी न,
थी वह भी दुखित चित्त
हँसते हैं वे भी तो
जिनको मैं प्रेम करूं।

चाहती जिसे हूँ मैं सब में ही अधिक आज
वह भी क्यों अन्य सा
मेरे प्रति आज है?

लाज है हजार बार
ऐसे कुमानवों को
कहने पर भी न जो
सुनते हैं सुख-दुख की।

इस प्रकार सोचती
बढ़ती वह जाती थी
चलित यंत्र भांति निरी संज्ञा से शून्य हो!

घर जाकर देखा,
थी उपले मा थाप रही
क्रोधित थी,
बड़बड़ा रही थी न जाने क्या
खिन्न मना बैठी वह भूतल पर मन ही मन!

किंतु देखते ही वह
नरबो को आंगन में
बरस पड़ी - —
"देर कहीं, इतनी भी होती है
जङ्गल के जाने में,
आता है तुझको तो टलना नित काम से
छोटे से काम तुझे पर्वत से लगते हैं
दीदा ही टिकता है तेरा कुछ दिवस से न।"

ठहर तनिक देर पुनः
कहना आरम्भ किया—

"चिकनी वह हाँडी थी
कई कई वर्षों की,
फोड़ दिया उसको भी,
तोड़ा कठौता भी,
पत्थर की कूंडी के
टूक टूक कर डाले
तुझको तो काम का सहूर ही न आता है,
पर आये भी कैसे ?
जब सीखना न चाहे कोई।"

"देखती नहीं क्या तू
हम भी तो आदमी हैं,
हम में भी जान है,
किंतु काम करते हैं
भोर से संध्या तक
श्वांस तक लेने का मिलता अवकाश नहीं"।

सुनती सब जाती थी
चुप चुप ही नर्बदा
नयनों से आंसू की बूँदे थी डाल रही।

चित्त में चैन न था
थी वह उद्भ्रांत निरी
मारुत के झोंके वत
भाग घुसी कोठे में
और छुपा तकिये में
आनन निज, फूट फूट
खूब खूब रोई वह भर भर कर सिसकियां।

रोते ही रोते वह
जाने कब किस समय
सोई, या हुई वह संज्ञा से शून्य कहीं,
पाकर अति दुःख भार
कोमल से चित्त पर।

"आली ! क्यों चित्त तव
रहता उदास भ्रांत,
समझ में न आता है
भाता है क्यों न तुझे
हँसना या खेलना ?
बतला दे मुझको भी——

बन की शुभ सारिका पञ्जरस्थ कब से है ?
मारुत के झोकों में झूलती सदा थी तू
किंतु आज चिंता के वारिधि में विनिमज्जित
दृष्टि क्यों आती है ?

पूंछा आ मालती ने
अतिशय अनुराग साथ,
म्लानमना दुखित चित्त
सहचरी नर्बदा से,
कर में ले दोहनी—
जाती थी दूध काढ़ने को जो भैंसों का ।

सुनकर मञ्जीर-ध्वनि मालती सुकण्ठ की
होकर प्रफुल्लित मन कहा "अरी दीर्घायु—
तेरी है,
अभी अभी याद आ रही थी तू,
अच्छा, तू बैठ तनिक
दूध दोह करके मैं अभी अभी आती हूँ।

"हूँ, बैठ क्यों जाऊँ मैं ?
क्यों साथ ही न ले मुझको ?
लूंगी क्या छीन मैं दूध दोहनी में से ?"
"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं" हँस बोली नर्बदा,
"आओ यदि चाहो तो मेरे तुम साथ सखी !

"धर्र धर्र" पय-धारा
पड़ करके दोहनी में
मञ्जुल ध्वनि करती थी,
भरती थी कानों में
सुर-पुर सङ्गीत सरस,
पुलकित चित करती थी।

और शांत चित्त महिषी
किसी अचल भांति उठा
ग्रीवा नभ ओर
मस्त, करती जुगाली थी
रूई के गालों सा श्वेत फेन डालती थी
अपने मुख उन्नत से।

स्नेहसिक्त हृदयों का
दोनों सखि आज भार
कर कर के बात मधुर
हलका कुछ करती थी।
मालती सुनाती थी
बात निज प्रियतम की,
अपने श्वसुरालय के अनुभव वह कहती थी।

और..............
हृदय हुलसित से,
अतिशय उत्कण्ठा से,
प्रथम-मिलन बातें सब सुनती थी नर्बदा।

सुन सुन कर बातें वे,
यूं ही कुछ टीस सी,
मधुर मधुर पीड़ा सी,
अनुभव वह करती थी सिहरन सी चित्त में।

'पीयूष'

"जीजाजी कैसे हैं ?
कुछ तो री और बता
कैसा स्वभाव ?
सुना कैसा व्यवहार है—
उनका सखि ! तेरे प्रति,
लड़ते तो नहीं हैं कभी ?

नव परिणत मालती
अनुभव करती थी सुख
कहने में मधुर मिलन रजनी-विश्रंभ कथा।

पर जब कुछ लज्जा से,
सहज सुलभ व्रीड़ा से,
स्नेह के उमड़ने से,
मालती रुक जाती,
झुक जाती आँखें जब अवनी पर,
छा जाती लालिमा गौर युग कपोलों पर,
रक्त वर्ण—कर्ण मूल जब जब हो जाते थे—

तब तब झट नर्बदा
मीठीसी चुटकी ले
कहती थी—
"कह, कह, क्यों रुकती है कहती तू बीच ही में
मुझ से भी लज्जा की क्या कोई बात है ?"

और फिर सँभल कर वह
कहती थी साहस कर
मन के आवेग आदि वश में कर पूर्णतया।

इसी भांति दूध जब थन में रहा न तनिक
ध्यान हुआ नरबो को कि—
छोड़ा पय था न तनिक बच्चे के हेतु भी।

किंचित खिसियाई सी
छोड़ उठ खड़ी हुई वह
लेकर के पय-पात्र
अपने कर युग्म में,
और कहा ———

"आ अब चल,
बैठ कर एक जगह
होकर निश्चिंत सखी !
बात हम करेंगे खूब।

सांध्य गगन लोहित था,
सूर्य जा रहा था अब अन्य किसी देश में
डरते से तारक गण आनन थे काढ रहे
द्विज-गण-अपत्य ज्यों नीडों से झांकते।

वियत व्योम शनैः शनैः
अन्धकार पूर्ण हुआ,
आलोकित सदन हुए
गांवों के दीपक से,
जल जल कर जगती को
देकर प्रकाश जोकि,
अपने हृदय का दिग्दर्शन कराते थे।

"कितनी विशालता है
दीपक-हृदय में सखि !
जल कर भी जगती को
देता प्रकाश नित्य"।—
मालती बोली यों।

किंतु अल्प क्षण ही में,
आये कुछ शलभ वहां,
दिखलाने अन्तर का
सरस, शुद्ध, सरल, स्नेह।

क्रूर वह दीप-शिखा,
ममता को जाने क्या,
आते ही उसने झट
भस्म किया उनका तन।

सिहरी,
तन कांप उठा,
दृश्य देख नरबो का,
और कहा, "देख सखी !
निर्दयता,
निष्ठुरता,
हृदय-हीनता का दृश्य
कितना घृणास्पद है !

हँस पड़ीं दोनों ही निज निज सुउक्तियों से,
किंतु हँसी अभिव्यञ्जित करुणा ही करती थी।

"अच्छा ! कल मेला है,
बोल तू चलेगी ना ?
सम्मन की जोट का न वीर दृष्टि आता है,
देखें किस करवट को ऊँट बैठता है सखि ?"

"किंतु",
मालती ने कहा—
"सम्मन समुद्यत नहीं
लड़ने को मेले में
अबके इस वर्ष सखी !"

"परसों तक उद्यत था,
किंतु एक दिन में ही,
जाने विचार कौन
आया मस्तिष्क मध्य,
लड़ने को कुश्ती का साहस ही न करता है"।

भरता है श्वांस दीर्घ,
किसी दुःख-वारिधि में
मज्जित सा दृष्टि मुझे सम्मनिया आता है।

अब ही की बात सखी !
पथ ही में देखा था
म्लान मना, शांत चित्त, तरुवर सहारे ही
खड़ा था पकड़े वह शाखा कर एक से।"

"तब पुनि क्या बात ही न
तूने की उससे जा ?"
"पूँछा था उसने ही,
"जाती हो आज किधर ?"
"नर्बदा-घर के प्रति"
मेरा यह उत्तर था,—

और तो न बात सखी !
हमने की उस समय।"

"पर देखा मैंने
था कुछ कुछ वह म्लान मना,
समझ में न आता क्या दुःख उसे भारी है?"

"खैर जो होना है होगा अवश्य सखी !
जाती हूँ, देर हुई
मुझको अति आज यहां।"

मालती चली गई दूर दूर नर्बदा से,
किंतु शब्द उसके वे झंकृत कानों में थे,
"पर देखा मैंने,
था कुछ कुछ वह म्लान मना,
समझ में न आता क्या दुःख उसे भारी है"।

सचमुच क्या सम्मन को
पीड़ा है आंतरिक ?
क्या सत्य है कि मेले में
अबके लड़ेगा नहीं ?

जिसके हित वर्षों से
लालायित बैठा था,
करता था दण्ड आदि,
पीता था दूध खूब,
आतुर था,
तकता था इस दिन की राह नित्य।

ले दे कर किसी भांति
आया वह दिन भी तो,
समझ में न आता
पुनि इतनी उदासी क्यों ?
चिंतित क्यों ?
चिंता क्यों ?
चिंता की बात नहीं
कोई भी प्रगट में ।

खैर ! आज जाऊँगी,
पूछूंगी सभी बात,
कारण क्या दुखित चित्त करने का अवसर पर ।

भरना उत्साह तुम्हें
आज वीर श्रेयस्कर,
ऐसे शुभ अवसर पर
साहस से हीन हुए,
जब कि शक्ति अपनी का जौहर दिखाना है ।

जाऊंगी आज प्रात,
पूछूंगी सभी बात,
कारण क्या अवसर पर
साहस के खोने का ?

सोच यही बाला वह,
शैया पर लेट गई,
रजनी भर नखो को
नींद ही न आई तनिक ।

विकल, भ्रांत, उद्विग्ना,
थी वह अति म्लान मना,
अपने लघु जीवन में—
जीवन-प्रभात ही में ।

सकल गांव आकुल था,
व्याकुल शोकाकुल था,
"आयेगी अबके क्या विजय-श्री गांव में न ?"
यही एक चर्चा था वयो-वृद्ध-बाल में

कहता था कोई ———
"है रोग यही भूतिया"
"रात रात मालिश कर सोता था चौड़े में"
"दूध नित्य पीकर वह राख भी न धरता था
चुटकी भर मुख में निज"—
अन्य तुरत कहता था ।

"और नहीं करता था कुल्ले तक भूल कभी"—
कहता था अन्य बाल ।

हाथ हिला कहता पर कोई जन चिन्ताहीन,
"पड़ गया होगा पैर किसी चौराहे में।"

ग्रम्य वैद्यराज किंतु,
डाढ़ी पर हाथ फेर,
कहते थे बार बार,
"गरमी है गरमी यह,
रक्त-प्रवाह है यह,
अधिकाधिक व्यायाम नित्यप्रति करने से
रक्त उष्ण होगया है।"

और देख इधर उधर धीरे से कहते फिर
"भरने से नित्य उदर अतुलित घी मक्खन से,
आखिर कुछ भक्षण की सीमा भी चाहिये,
बाबा ने बांध दी भैंसें ला चार चार,
कोरी बड़ाई का भूखा संसार है"।

और पुनः शक्ति साथ चिल्लाकर कहता वह
"बबरी सब काट धरो,
चन्दन का लेप करो,
पानी के तड़ें दो,—

आंवले खिलाओ खूब,
हरी हरी दूब पर नंगे पग दौड़ाओ
सूर्य आगमन के पूर्व प्रतिदिन ही खेतों में।

किंतु एक बुढ़िया यह
कहती थी—"हाय ! हाय !
नजर लगादी है इसे गांव की चुड़ेलों ने,
तकती जो रहती थी झुक झुक कर बार बार,
पथ में से जाता था लाल जब सिंह सा ।

गाजर की जात युवक,
गौर वर्ण, कठला-तोड़,
मक्खी तक फिसल जाय बैठे यदि अङ्ग पर।

कसरत भी करता था नित्य प्रति चौड़े में,
और सब चुड़ेलें आ ताक झांक करतीं थीं,
मेरा तो माथा दिन पूर्व कई ठिनका था।

मिट्टी चौराहे की लाओ पिलाओ नीर
किसी सोम कुण्ड का,
नून राई जल्दी से वारो, उतारो सब
नजर का प्रभाव सबल।

भैरों की, गूगे की, पीर और सैयद की
मनौती मनाती थी जात बोलती थी और

धरती थी उठा उठा पैसे देवता दियों के,
रोट आदि बोलती थी माता अधीरा घनी,
ताकि दूर दुःख दैविक दारुण दुरंत हों।

पर ये उपचार आदि व्यर्थ थे सम्मन हित,
उस को था रोग नहीं कोई भी वास्तव में।

उस को थी चाह प्रबल पाऊं मैं नर्बदा
जीवन की साथिन के मञ्जुल स्वरूप में
हृदय दग्ध करती थी यह ही बस वेदना।
"नर्वदा निष्ठुर क्या चाहती नहीं है मुझे,
किंतु क्यों करती है पुनि वह अवहेलना,
उस दिन की बात लो,
कहा था न मैंने कुछ,
फिर भी क्यों रूठी वह समझ में न आता है ?

यही मूक प्रश्न उसे उद्वेलित करता था,
हरता था शांति, क्रांति भरता था चित्त में,
भाता था उस को कुछ दूध, घी व भोजनादि।

चिंतित था आतुर था सारा ही गाँव किंतु
सम्मन के दुःख का न कारण तक ज्ञात था।

रजनी भर सम्मन को
नींद ही न आई थी,
काटी थी रात सभी,
गिन गिन कर नभ-तारे,
रतनारे नैन लिये
बैठा था चौखट पर,

फूटने ही वाली थी
प्राची में लालिमा,
कालिमा रजनी की
प्रक्षालित करने को
आने ही वाली थीं
दिन-कर की रश्मि प्रखर।

हरने को सम्मन के
अन्तर की वेदना,
किंतु प्रथम आई वह
नव विकसित नर्बदा,

चौंकी वह देख आज
सम्मन के आनन को,
सूजे से नेत्र निरख—
उतरासा मुख-मण्डल ।

नाच उठे हृदयस्तर
दोनों ही प्राणियों के,
थिरक उठे लम्बी सी
वरुणी पर मुक्ता दो,
हिलकी भर आई पुनि
गद्‌गद्‌ युग कण्ठ हुए,
स्नेह की हिलोर उठी
अन्तर कपाट तोड़,
दौड़ कर सम्मन ने
वक्ष से लगाली प्रिय,
रोक वह सका न तनिक
अपने चित-वेग को ।

विद्युतवत् तड़प किंतु
दूर हुई नरबोद्रत,
और कहा:—

"छूना मत अंग मेरा,
वासना भरे हो तुम,
जानती न मैं थी इस वासना तुम्हारी को।—

नर्वदा कुमारी है,
क्या है यह ध्यान नहीं ?
मान भी न सोचा कुछ
पैतृक घराने का ?
कामी ! निर्लज्ज !
दूर मुझ से ही रहना तुम,
बात भी न करना मैं चाहती तुम्हारे से।"

सम्मन निस्तब्ध
खड़ा, सुनता था वक्तृता;
जा रहा गड़ा सा था
अवनी के मध्य आज,
लाज आरही थी अति
उस को निज कृत्य पर।

"भूल हुई, माफ करो"
सहसा वह बोल उठा
"मैंने निष्कर्ष कुछ
और ही निकाला था
समझ मैं न पाया था,
शुद्ध, सरल, स्नेह सौम्य।"

मुझ को अधिकार सा
तुम पर हो आया था,
किंतु आज ध्यान हुआ
धारणा गलत थी वह,
निराधार आज हुईं मेरी सब कल्पना,
खैर क्षमा करना तुम मार्गभ्रष्ट सम्मन को
अब न कभी उस को तुम .... ।"

किंतु क्रोध-आक्रान्ता,
नर्बदा न ठहरी पुनि
आंधी के झोके सी सहसा विलीन हुई ।

अचल पाषाण सा,
संज्ञा विहीन सा,
खड़ा ही रहा वह
भूल अपना सब कर्म धर्म,
और गई नर्बदा
होकर के दुखित चित्त
उस के व्यवहार से ।

अन्तर में दाह लिये
अपनो अवहेलना की,
युवक होंट काटता था,
मुट्ठी निज बांधता था,
"इतना अभिमान" यही कहता था नेत्र फाड़,
दग्ध था शरीर आज उस का क्रोधाग्नि से ।

वल्लरियां घास आदि कुचल कुचल घूमता था
मत्त हस्ति भाँति ही इतस्ततः सम्मनिया।

मेला भी आज है,
और वह लड़ेगा अब,
ख्याति क्यों न प्राप्त करे
जब है वह शक्त आज ?

हृदयहीन, स्नेहशून्य, निर्मम है नर्वदा,
उस के हित पश्चात्ताप
व्यर्थ है विफल है अब
यही सोचता हुआ पहुँचा अखाड़े में
और निज तन को ही क्रोधानल केन्द्र बना,
करने लगा व्यायाम तन की सब शक्ति लगा।

हड्डियां चरमराई,
धमनियां फड़क उठीं,
उष्ण हुए अङ्ग रक्त सञ्चालन वेग से,
द्रुतगति से चित्त भी स्पन्दन में व्यस्त था
लेता था श्वाँस शीघ्र, शीघ्र भांति भैंसे के।

"सौं सौं" करता था,
रतनारे नेत्र निरख भय प्रतीत होता था,
ठहर ठहर बीच ही में दूध कभी पीता था,
राह देखता था वह संध्या के आने की।

अन्त वह प्रचण्ड मार्तण्ड तनिक मन्द हुआ,
गांव के निवासीगण सम्मन के घर आगे
खड़े हुए, तकते थे राह सभी आने की
चौंकन्ने, आंख फाड़, झुक झुक कर बारबार ।

अल्पकाल ही में पुनि,
हर्षित मुख लेकर वह,
सम्मन भी आ पहुँचा,
बांछें खिल उठी देख
उसे युवक मण्डल की ।

स्वागत हित सब ही ने
कण्ठ से सुशक्ति लगा,
जय बोली पवन सुत बली बजरङ्ग की ।

और चले साथ पुनः
मेले प्रति सभी लोग,
तन में ले जोश,
हृदय हुलसित में भर उमङ्ग ।

बीस बीस कोसों के
सैलानी मेले में
एकत्रित हुए थे आ और वर्ष भाँति ही।

मूछों पर ताव दिये,
बड़े बड़े बीर बांके
ऊँट और घोड़ों पर
चढ़ चढ़ कर आये थे,
गोल बांध सभी आज,
खड़े हुए देखते थे,
आने की राह सुभट
बीर पहलवानों की।

और अल्प क्षण ही में,
सम्मन भी आ पहुँचा,
संग लिये निर्वाचित
ग्राम्य युवक-मण्डली।

ऊँचे से टीले पर,
ग्राम्य के प्रतिष्ठित जन,
मुड्ढों पर बैठे थे ग्रीवा निज तान तान।

मूंछों गल-मुच्छों पर
रह रह कर हाथ जो कि
फेर फेर,
देखते थे राह मल्ल युद्ध की।

भांति भांति कण्ठों से
सज्जित निज ग्रीवा को
कूँची से लगाये हुए,
वश में होकर के बस केवल नकेल के,
मारुत गतिवान ऊँट,
ऊँट नहीं यान जो कि कहलाते मरुस्थल के,
खड़े थे गोल बाँध पीछे मनुष्यों के,
लादे हुए वीरों को निज स्थूल थूहों पर।

चाहते न वे थे तनिक,
ठहरना या खड़ा होना,
भागना ही उनको बस एक मात्र ग्राह्य था,
परवश हो किन्तु उन्हें,
वश में नकेल के आ,
पड़ा खड़ा रहना ही।

किंतु रोष वे भी तो
गरज गरज "धुद्धू धू"
खूब प्रगट करते थे,
हरते थे कोलाहल कुँजड़ी सुमालिनों का
तथा ग्राम्य बच्चों का।

युवक सभी त्याग त्याग,
अपने अल गोजे मञ्जु,
और त्याग राग मधुर
अपने सब नारियाँ,
राह आज तकती थीं,
लखने को सम्मन की
शक्ति का प्रताप और,
बरस भरी साधना का
मञ्जुल फल देखने को—

मनौती मनातीं थीं
भांति भांति देवों की,
ताकि लाज रक्खें वे
कर सहाय सम्मन की।

एक ओर लंबरदार,
डाढ़ी पर फेर फेर अपने कर मोद से,
कुप्पासा फूला हुआ बैठा था मुड्ढे पर,

सोचता था—
कौन जीत सकता है सम्मन को ?
पीया है दूध खूब तीन तीन भैंसों का,
खाये हैं घी के कई भरे हुए झाकरे,
पर वे सब सफल होंगे
आज कुछ पलों ही में,
है दृढ विश्वास मुझे।

अल्प से समय में पुनि,
लंगर निज बांध, लिये
सुगठित शरीर मञ्जु,
मारुति को सुमरता,
सम्मनियाँ कूद पड़ा
बीच में अखाड़े के।

दृष्टियाँ न जमती थी,
मक्खी की बात कौन,
गौर वर्ण तैल-सिक्त,
सुदृढ़ शरीर निरख,
ग्राम्य युवक वृन्दों को डाह अमित होता था।

बोल उठा जन-समूह
"जय हो बजरंग बली"
सम्मन ने मातृ-भूमि-रज को

मस्तक पर धर,
गर्व युक्त नेत्रों से देखा जन-भीड़ को।

और ठीक उसही क्षण,
ग्राम्य वृद्धाओं ने,
सिर पर रख हाथ युग्म
बीर की बलैयाँ ली।

ओर दूसरी से पुनि
उतरा अखाड़े में,
भूधर वत तन विशाल
था जिसका दृढ़ अतीव,
अतुलित बल-युक्त जो कि दिखता था दिखने में।

वह भी तो बाट देखता था इस योम की
पूरे ही वर्ष से।
हर्ष से उतरा वह सत्वर अखाड़े में,
तोड़ता तन को, युग जङ्घा फटकारता,
तुमुल नाद उसके दल वालों ने भी किया,
कांप उठी जनता सब भूधर सा अङ्ग निरख।

"कहाँ भला सम्मन और—
कहाँ यह विशाल काय"
"वह तो बच्चा सा है इसके समक्ष में"

"वक्ष तो विलोको टुक
चक्की का पाट है"
"धमक धरा जायेगी इसकी पद चापों से"
"पेड़ी सी कीकर की जंघा जवान की है"
"कोल्हू सा बैठ जाय सम्मन पर यदि यह तो—
तो न श्वांस भी ले वह"—
इस प्रकार गाँव वाले करते थे
बात अमित भय से भयभीत हो।

आतंकित होगया समस्त दल सम्मन का,
चिंतित सा लंबरदार
दर्शित हुआ दर्शकों को।

किंतु वहाँ सम्मन के
मुख पर गम्भीरता थी,
धीरता थी, वीरता थी, उसके दृढ़ चित्त में।

खड़ा था छाती के
तान वह कपाट आज,
संभव है छिन्न-भिन्न
भूधर हों टकरा कर,
हड्डियाँ न थीं वे,
थीं लोह की सलकाएँ,

भाल था विशाल, लाल
नेत्र युग उसके थे।

"आज उसे तन की निज
शक्तियां दिखानी हैं"
यह विचार आया और
देखा प्रतिद्वन्दी को,
टूट पड़ा सत्वर वह
उस विशाल काय पर,
क्रुद्ध केहरी ज्यों
नित करियों पर टूटता।

डालते थे भर भर के
मुट्ठे वे धूल के,
सानने को एक दूसरे का तन
ताकि कहीं,
तैल-सिक्त अवयव आ
पकड़ में न फिसल जाये।

मोटा वह दाव पेच
करता तलाश रहा,
झुक झुक कर आता था
पैरों पर सम्मन के,

किंतु इस युवक से थे
दूर दांव पेच आदि,
इसको तो एक मात्र
शक्ति का सहारा था।

आता था सम्मन को,
केवल बस पटक देना
कटि को पकड़ कर के अटाचित्त पृथ्वी पर।

सम्मनिया आगे ही
आगे को बढ़ता था,
हटता था पीछे ही
पीछे को मूधराङ्ग,
रक्त जला जाता था
सम्मन का देख देख
व्यर्थ के विलम्ब को।

अंत पुनि द्रुत गति से
छन्ने सा उछल कर,
सम्मनिया आ पहुँचा
उसके पृष्ट भाग पर।
और पुनि पकड़ कर कटि,
पूर्ण शक्ति साथ उसे
दे मारा धरती में—

कम्पित कर बाहु युग्म,
नेत्र निज तरेड़, तनिक
रक्त वर्ण आनन कर।

वह विशाल काय आज,
भूल गया अकड़ज्ञा
धोबी घाट सबही कुछ,
हत-प्रभ दीपक सा
भूमि पर पड़ा था वह,
मन के अरमान सभी
मन ही में रह गये,
बह गये दाम
बादामो के पानी में।

जयध्वनि सम्मन की
घोषित की दर्शकों ने,
युवकों ने कन्धे पर
उसको उठा लिया,
और वहां सम्मन ने
लङ्गर हिला दिया।

"मेटले जो चाहे चित के
अरमान आज,"
फर फरा डाढ़ी को

बोल उठा लंबरदार
किंतु कौन कर सकता
इतना दुस्साहस था
सम्मन सेलड़ना तो
हार का बुलाना था,
क्योंकि वहाँ अतुल श्रोत
बहता था शक्ति का।

विद्युत सी फैल गई,
बात गाँव गाँवों में,
"विजय-श्री सम्मन की
ओर ही झुकी है आ"
और वह झुके ना क्यों भी,
कसर कौन रक्खी थी
बापने खिलाने में,
भैंसों पर भैंसे ला
बांध दी कई कई,
खोल धरे घी के पुनि
अगणित ही झाकरे,
जी को मोसा न तनिक
किसी बात हेतु भी,
आती पुनि क्यों न कहो
विजय-श्री सम्मन-प्रति ?

अगले दिन ग्राम-वासी
ले ले उपहार आदि,
सम्मन को देने को,
आये अति चाव भरे ।

लाता था कोई यदि
शक्कर की थाली तो,
अन्य लोग लाते थे
गुड़ ही की भेलियां,
और कोई लाता था
घृत चावल दुग्ध आदि ।

अतुलित उत्साह साथ,
सम्मन भी लेता था,

देता था धन्यवाद,
पुलकित वह आज था,
हुलसित था चित्त मग्न उसका आनन्द में।

नरबो की मा ने भी
देकर कुछ शक्करादि,
नरबो को भेज दिया
और कहा, "जा दे आ,
सम्मन का मेले की जीतोपलक्ष में।"

अतिशय आनन्द साथ
वाला वह ले करके,
चल दी गृह ओर
तुरत पुलकित हो चित्त में।

अतिशय हर्षाती थी,
मन को सरसाती थी,
अमृत वर्षाती थी,
हर्षाती जड़ तक को-
थी उसकी लोल दृष्टि,
पड़ती थी जिस पर भी
वियत आँख तनिक देर।

कुंतल समीरण में
रह रह कर नाचते थे,

उड़ता वर वस्त्र था
मारुत की लहरों में,
दांतों से पकड़ निज
अञ्चल-पट बाला वह,
बढ़ती ही जाती थी
करती अठखेलियाँ,
द्रुत गति से वियत मार्ग
पूरा करती नितांत।

पुलकित हिय दिव्य रूप,
सुदृढ़, विशाल गौर,
उसका शरीर देख,
आज नर्बदा को,
पुनः टीस अनुभूत हुई।

सिहरी वह,
कांप उठी उसकी मृदु अंगुलियां
थिरक उठा वक्षस्थल,
चञ्चल चित नाच उठा,
स्पंदित था हृदय और
झन झन करता था तन,
मन मन का पैर हुआ—
चलना दुश्वार उसे,

और तनिक दौड़ गई,
गौर युग कपोलों पर
विद्युत की रेखा वत भाव मयी लालिमा।

किंतु अल्प क्षण ही में,
रक्तानन श्वेत हुआ,
भौंचक्की, भयभीता,
हरिणी सी दीख पड़ी,
विस्फुरित नयनों से
अगल बगल तकती थी,
डरती थी आज बाल
मानव की छाँया से।
सन्मुख होने में
आज कुछ वह लजाती थी।

खैर वह पहुँच गई,
दृष्टियां मिली आयुग,
सम्मन ने अपना मुख
अन्य दिशा ओर किया,
देखकर के भी हो जैसा देखा न उसे।

नरबो कुछ और बढ़ी,
किंतु त्याग थल को द्रुत,
पहिने बिन पाद-त्राण,
अनिश्चित पथ ओर बढ़ा
मन में वह सोचता कि———

"इतना अपमान और
इतनी अवहेलना"
कर के भी आशा है
लूंगा उपहार मैं।"

"किंतु क्या मैं हूँ उस
श्वान के समान जो कि,
दुतकारो, फटकारो,
लात मार दो चाहे,
पर फिर भी खालेगा
देने पर शुष्क टूक।"

"नारी यदि अपने पर
करती अभिमान आज,
क्यों न पुरुषवर्ग
पुनः पौरुष अभिमानी हो?
भूखा हो मान का,
प्यासा हो प्रेम का,
जो कि हृदय-एकता का
एक मात्र साधन है।"

नीरव सी, निस्वन सी,
हतप्रभ सी नर्वदा,
कर में उपहार लिये

तकती ही रह गई,
बोल सकी मुख से वह
केवल दो शब्द भी न,
किंतु सजल आंखें युग
भाव सभी कहती थीं,
भर कर के जलकण दो
निज अपांग भाग में-
व्यग्र जो कि अतिशय थे,
आने को तोड़ आड़
पलक और वरुणी की।

किंतु कोई देख न ले,
डाल वह सकी न उन्हें,
टिम टिमा करके निज
पलकों को बार बार,
पी गई भीतर की
भीतर वह स्नेह-सलिल—

जिस में थी भाव भरी
यौवन-प्रभात-कथा,
व्यथा थी या कि किसी
मानिनी प्रणयिनी की,
रोना भी पाप हुआ,
नर्बदा कुमारी को,

सरल-चित्त, स्नेह भरी,
सलज ग्राम्यबाला को।

कैसे लेजाय उलटा,
और क्या कहेगी जा ?
सम्मन ने किस प्रकार ?
कारण क्या—
लौटाया जो यह विजयोपहार ?

किंतु तनिक काल बाद,
सोचा—मैं क्यों न दूं,
सम्मन की मा को ही
जाकर उपहार आज।

देकर घृत शक्करादि
सम्मन की माता को,
द्रुत गति से लौट गई
नबों निज सदन ओर,
तुमुल नाद मन में लें—
अन्तर में वेदना,
टीस से हृदय को भर—
नयनों में अश्रु बिंदु।

ओह ! ! !
कैसा वह रूप ! !
गौर सुगठित शरीर मञ्जु,
कम्बु सी ग्रीवा,
वक्ष विस्तृत पुनि बांह दीर्घ,
उन्नत ललाट और
वियत नेत्र मद भरे,
देखकर झुकेगा नहीं,
ऐसा क्या कोई है ?

नर्वदा कुमारी है,
एक ग्राम्यबाला है,
टेक और मर्यादा,
अपनी कुलकान आदि,
रखना ही समझती है
अपना कर्तव्य-धर्म ।

किंतु वह मानवी है,
है उस के भी हृदय एक,
और उस हृदय में है
अनुभव करने की शक्ति,
सुन्दर असुन्दर का
भेद जानती है वह।

निरख कर अखाड़े में
उस का सुविशाल अङ्ग,
और निरख उस की
पुनि त्वरितता कुश्ती में,
शक्तियां अपूर्व निरख
आकर्षित हुई बाल।

चाहा, लूं क्षमा माँग
अपनी अवहेलना की,
करदूं जा अर्पण,
यह क्षुद्र अङ्ग चरणों में।
मन की सब बात कहदूँ,
धरदूं चित खोलकर
दिखलादूं स्पष्ट यह कि,
जलती है आग एक
मेरे भी चित्त में,
शांत जिसे तुम ही
कर सकते हो विश्व में।

नर्बदा तुम्हारी है,
हो तुम अब नर्बदा के,
तुम पर अधिकार नहीं हो सकता अन्य का।

किंतु फिर लोग……?
माँ ! ! बापू ! ये लोग सब……कहेंगे—
"गाँव की गाँव ही में………।"

नहीं ! यह असम्भव है,
बात ही बुरी है यह,
चर्चा तक निंद्य है।

श्वेतता, रक्तिमता,
पाण्डुरता पल पल में,
नाचती थिरकती थी
बाला के आनन पर।

मानिनी का मान आज
यद्यपि था खण्ड खण्ड,
किंतु कान कुल की थी
अब तक अक्षुण्ण बनी,
गर्हित है, निन्दित है,
उस का विचार आज,
भ्रष्ट हुई पथ से वह—

"क्या सच ?
मैं भ्रष्ट हुई ?"
सोचती यही थी वह
आंगन को लीपती।

"सरर सरर" पोतिया
चलता था पृथ्वी पर,
चलित यन्त्र भांति कर,
काम कर रहे थे निज,
ध्यान किंतु उस का था
किञ्चित इस ओर नहीं कि,
बाकी है कितना या
लीप चुकी कितना वह ?

सहसा आ माता ने
तोड़ी वह शृङ्खला—
"जा, जा ! जल्दी से तू
पहिन ले नवीन वस्त्र,
आयेगी आज तुझे
देखने लुगाई एक,
किंतु देखना ही क्या
सूरज सी बेटी का,
कौन फेर सकता है
मुंह को इस चांद से।"

"जा बेटी ! जल्दी जा,
लीप शेष लूंगी मैं,
और देख ! बालों को
भूतनी समान मत
बिखरे ही राखियो ।"

नरबो सुन सन्न हुई,
किंतु क्या उत्तर दे,
इस घर से दूर उसे
जाना अवश्य है ।

जीवन का दीर्घ भाग
उस को बिताना है,
किसी और घर में जा,
त्याग निज जन्म-स्थल,
क्रीड़ा स्थल, सुखद-स्थल ।

जहां वह बढ़ी थी नित,
वल्लरि की भांति,
झूम झूम कर मारुत में,
कीड़े की भांति,
रेंग रेंग कर धरातल में,
और वह धरित्री ही
त्यागनी पड़ेगी अब ।

क्योंकि वह लड़की है,
हाय ! किन्तु लड़की प्रति
इतना अन्याय क्यों ?
बैठी ही बैठी वह
सोचती रही यह सब।

गरज उठी माता पुनि,
"जारी जा ! जल्दी कर !
सुनती नहीं है क्यों—
ढीम बनी जाती है ?"

विजित शत्रु भांति वह
उठ कर चली गई।
हाथ पकड़ हांक दिया
चाहा जिस ओर ही
गाय और बेटी का
बेली है राम ही।

अग्नि की शिखाएँ भी
लेती कुछ काल हैं,
किंतु बात-विस्तरण में
लगते हैं क्षण ही कै ?

नर्बदा विवाहित अब
होगी कुछ योम ही में
"मंगनी और ब्याह
साथ साथ ही आये हैं,"
आनन्दित गाँव हुआ
सुनकर यह समाचार ।

बृद्धाएँ कहती हैं,
"नरबो है भाग्यवान,
पाया ठिकाना है
उन्नत घराने का ।"

किंतु क्यों फिर भी है,
म्लान मना
तरुभिन्ना,
लतिका विक्षिप्त सी,
सुधामयी, हास्य मुखी,
चंचल-चित नर्वदा ।

जीवन में जीवन का
साथी तो एक बार,
चुन लिया जाता है,
होता है अटल वही,
ब्याह है हृदयों का
संगम, व्यापार नहीं,
जीवन यह फलीभूत
करता है मानवों के,
बांधता है बंधन में
उच्छृङ्खल हृदयों को,
दर्शित कराता है
मार्ग शुभ प्रणय का यह ।

किंतु ! अब करूँ मैं क्या ?
सोचती यही थी वह,
लज्जा, कुलकान
और मर्यादा बद्ध बाल
चाहती चढ़ाना थी

भेंट निज जीवन की,
किंतु आ विचार उसे
विचलित कर देते थे,
भरते थे भाव कुछ
और ही हृदय में आ।

सम्मन कमजोर नहीं,
और वह पुरुष भी है,
सकता है कौन कह
उसको दो बात भी,
गाँव के समक्ष हम
दोनों ही खड़े हो क्यों न,
कहदें यह स्पष्ट,
"ब्याह करते हैं आपस में।"

अपने ही जीवन पर,
और तुच्छ तन पर भी,
अपना अधिकार नहीं,
कितना घृणास्पद है ?

किंतु दोष किसका है ?
मानस-दौर्बल्य,
या कि साहस की न्यूनता ?

साहस भी करलें हम,
मन की लें शक्ति बढ़ा,
पर लोग फिर कहेंगे क्या ?
"गाँव की गाँव ही में.................. ।"

चिंता नहीं गाँव की,
कहने दो दुनियाँ को,
कौन पकड़ सकता है
जीभ जलन हारों की,
दुनियाँ के मुँह पर कब
ताला लग पाया है ?

पर आज वह सम्मन ही
मुझसे कुछ दूर है,
हो भी वह क्यों न,
प्रथम मैं ही जब दूर थी ?
पर आज निज शरीर को
अर्पण मैं करती हूँ
उसके पद युग्म में ।

पर यदि अस्वीकृत हो ?
सोच हुई कंपित वह,
स्पंदन था, कंपन था,
सिहरन थी अङ्गों में,

चलती थी श्वांस-क्रिया
उसकी अति वेग से।

नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं
होगा त्रिकाल में भी,
सम्मन को शैशव से
खूब जानती हूँ मैं,
स्वच्छ नवनीत के
समान चित्त उसका है।

उस दिन की बात याद
उसको थी आज भी,
उतरा परींढा था
जब उसकी गंद से,
मा ने भी खूब ही
उसको धमकाया था,
बाप और दादा को
काढी थी गालियाँ।

सुन कर वह उनको,
हुआ क्रोधित अत्यन्त ही,
झल्ला कर मन ही मन
कितने वह क्रोध से
लौटा था अपने घर।

समझ मैं चुकी थी,
अब देखेगा भूल के न,
सम्मन इस घर के प्रति,
और नहीं बोलेगा
हम से कदापि भी।

किंतु दिन दूसरे ही
आया स्वयम् ही वह,
"चाची ! ओ चाची !
माँ तुझको बुलाती है,"
कितने प्रमोद से
उसने यह कहा था आ।

चाहे वह कितना ही
क्रोधित हो एक बार,
किंतु नहीं काला है
सम्मनिया चित्त का।

जाऊँगी,
जाकर मैं,
देखूंगी कैसे वह,
करता है प्रेम-सिक्त
चित की अवहेलना ?

काली सी तामसी में अगले दिन नर्बदा,
सम्मन के घर के प्रति
चलदी कर साहस अति,
तमावृत्त पथ पर वह
बढ़ती ही जाती थी,
गड्ढे पाषाण आदि
अटकल से छोड़ती।

भूँक श्वान उठते थे
सुन कर पद चाप कभी,
आते थे दौड़ दौड़
चीर फाड़ खाने को,
किंतु दुम हिलाते थे
लोट लोट पैरों में,
पाकर के गंध मधुर
उसी ग्राम-वासी की।

अचल चित्त वाला वह,
बढ़ती ही जाती थी,
देने को भेंट आज अपने शरीर की।

चाहती बनाना थी—
शैशव के साथी को,
साथी निज जीवन का,

यौवन का मित्र और
स्वामी निज तन का,
तथा प्राणनाथ प्राणों का।
आज उसे भान हुआ
होता है प्रेम क्या ?

सम्मन की आतुरता
जिस पर वह बिगड़ी थी,
क्षम्य आज उसको थी—
क्रीड़ा माधुर्य मयी,
द्रुत तर अति होती ही—
जाती थी श्वांस क्रिया,
आती थी बढ़ती ज्यों
घर के वह पास पास।

'धक्क' 'धक्क' करता था
चित्त आज भय से कुछ,
कण्ठ से न श्रम से भी
बोल कुछ निकलता था,
उठती हिलोरें थी
मानस में नव नूतन,
उसके वक्षोज आज
लाज त्याग जगती की,

चाहते निकलना थे
वस्त्र के कपाट खोल,
अञ्चल की परिधि त्याग,
तोड़ अस्थियों के बंध।

कम्प और विवरण भी
होता था बार बार,
आँधी के झोके सी
बढ़ती ही जाती थी।

सरिता ज्यों सागर की
ओर बढ़ा करती हैं,
द्रुत तर अति गति से
ज्यों आता वह पास पास,
आतुरता-विह्वलता—
केन्द्र हृदय उसका था।

तमका साम्राज्य दूर
करने को तारे सब,
यद्यपि प्रयत्न अथक
करते थे आज किंतु,
सकते क्या श्वान
कभी केहरि का नाश कर ?

क्षण क्षण में मिट मिट कर,
लय होकर, क्षय होकर,

तारागण वियत व्योम
मध्य नये उगते थे,
किंतु अल्प क्षण ही में
वे भी लय हो जाते,
खो जाते नील-निलय—
सागर अनन्त में।

खुर्राटे भरते थे
मानव सब सुप्त पड़े,
वेदना-ग्रसित को पर
नींद भी न आती है।

ज्वाला सी जलती है
सम्मन के चित्त में,
रह रह कर उसको बस
यह विचार आता है कि,—

"इतना अभिमान और
इतनी अवहेलना
करके भी चाहती है
देना उपहार मुझे,
समझा है भिक्षुक की
भांति आज सम्मन को,
दे दो दुत्कार और

डाल तनिक आटा दो,
ले लेगा,
कर ही क्या सकता है अन्यथा ?"

उस दिन वह आई थी,
थाल एक लाई थी,
भाई थी मुझको वह
कितनी उस काल किंतु,
चाहते हुए भी मैं
बोल ही सका नहीं।

उसके वे वियत चत्तु,
सजल हुए देख मुझे,
जब मैं कुछ क्रुद्ध-मना
होकर था जा रहा।

समझ में न आता है—
हैं उसके भाव क्या ?
मेरे हित यदि उसके
अंतर में प्रेम है,
तब फिर क्यों
करती है मेरी अवहेलना ?

इसी भांति शैया पर
करवटें बदलता हुआ,

बैलों की नाँद के
समीप सो रहा था वह ।

सहसा युग बैल चौंके
कर्ण और पूँछ उठा,
नथुनों से श्वांस भूरि
छोड़ने लगे नितांत,
इतस्ततः घूम घूम
खूँदते धरित्री थे ।

सम्मन ने घबरा कर
देखा जो इधर उधर,
और कहा सस्वर
"है कौन" तनिक उठ करके ।

उत्तर में बाला वह,
उसके पैरों पर थी,
आई थी आज जो कि
धोने को चित्त-मैल,
मेटने को मनस्ताप,
शांत हृदय करने को,
धरने को जीवन निज
सम्मन-पद-युग्म में ।

सम्मन पहिचान गया,
जान गया बात सभी,

प्रज्ज्वलित क्रोध हुआ
लख करके अश्रु-बिंदु,
पड़ पड़ कर पैरों को
स्नान जो कराते थे।

कतिपय पल दोनों ही
प्राणी निस्तब्ध रहे,
बोल ही सके न वे,
करने पर उपक्रम भी,
अन्त पुनः सम्मन ने
पूँछा आवेग रोक—

"रात्रि समय आने का
कारण क्या नर्बदा ?
सम्मन तुम्हारा है,
रहेगा तुम्हारा ही,
उसके हित इतनी पुनि
व्याकुलता ठीक नहीं।"

"सम्मन ! तुम मेरे हो
किंतु पराधीना मैं,
बोलो किस भांति रखूँ,
अपने को सम्मन की,

दीर्घ काल रोके रही
अपनी चित्त-चाह किंतु——
आज वह असह्य हुई।

"ज्वाला सी फूट निकलूँ
अन्तर-पाषाण तोड़"
चाहती है आज यही
मेरी चित-चाहना।"

सम्मन ने कर में कर,
ले कर प्रबोध दिया
और कहा—

"किसमें है शक्ति!
तुम्हें कौन छीन सकता है?"
एक बार काल का भी
आनन मैं मोड़ दूंगा,
तोड़ दूंगा तृणवत मैं
आये जो सामने,"
कम्पित था बीर का
शरीर क्रोध-वेग से।

सहम गई नरबो भी
लख कर वह क्रोध प्रथम,

किंतु अल्प क्षण ही में
साहस को देख कर
थी वह पुलकाय मान।

और क्षण दूसरे ही
ध्यान उसे गांव का,
समाज मर्यादा का
आया तुरंत ही—
बोली वह भयातुर हो
"सम्मन ! असंभव है,"

शिथिल अंग उसके थे,
गिरी जा रही थी वह ....,
किंतु शक्ति शाली कर
सम्मन के पास थे,
उसकी रक्षा निमित्त।

बाला वह चेतना
विहीन हो करों में ही,
आश्रय से हीन एक
लतिका विक्षिप्त सी,
अङ्क में पड़ी थी भूल
सहसा सब दुःख भावी,
अपने उस सुदृढ़ काय
वीर धीर प्रेमी के।

अन्त दिवस आ पहुँचा,
शनैः शनैः खिंच खिंच कर,
आई बारात, हुआ
हुलसित सब गांव, निरख
नौशे की छवि को,
सुन उन की कुल कीर्तियाँ।

नर्बदा विमूढित थी,
कर ही क्या सकती थी,
नियति के करों का वह आज बस खिलौना थी।

मञ्जुल उपहार आदि,
नव पट शुचि भूषणादि,
उसको वे आज सभी
व्यर्थ दृष्टि आते थे,

भाते थे किञ्चित भी
रंग राग नरबो को न।

क्षण क्षण में, पल पल में,
उसके अंतस्तल में,
जलती थी अग्नि एक,
करती थी म्लान जो कि,
भरती थी खिन्नता,
नर्बदा-हृदय में अति।

"मातृ-पितृ-पृथकता का
और त्यागने का गृह,
दुख तो होता ही है"
कहते थे वृद्ध पुरुष।

वृद्धाएँ कहती थीं,
"बुलवा हम शीघ्र लेंगे,
दुखित चित्त होना
शुभ, मंगल के कामों में,
होता निकृष्ट है।"

बातें ये ईंधन का
काम कर रहीं थीं, पर
लाज आज उसके थी
मुख पर अवराजती,
चाहती हुई भी वह,
बोल ही न सकती थी।

और अधिक सुनने पर,
फूट फूट रोती थी,
धोती थी आनन को
नयनों से अश्रु डार,
भार था अपार उसे
अपने ही जीवन का।

उस दिन प्रिय सम्मन का,
क्रोध शांत करने को,
उसने था क्या न किया।

"भाग चलो और कहीं"
कहा जब सम्मन ने,
सहमी वह सुन कर थी,
और रो कहा भी था कि——

"जीवन की जटिलता से
भगना क्या ठीक है ?
भग कर क्या त्राण कहीं
पायेंगे सोचो टुक ?

जगती जब चाहती न
संग हम दोनों का,
फिर क्या हम दुनियाँ में
सुख से रह पावेंगे ?"

"करना न याद मेरी,
चित्त को दुखाना मत,
नर्बदा तुम्हारी है अपने जी जान से,
तन पर पर आज उसे,
कोई अधिकार नहीं।"

"रखूंगी चित्र एक
सम्मन ! तव चित्त में
पूजूंगी तुम को मैं—
मेरे तुम देव हो।
भेंट हमें करने दो
जीवन की चाह आज,
रखने दो लाज,
काज होने दो होता जो।"

पञ्जरस्थ केहरि सा,
क्रुद्ध-चित्त सम्मन पर,
दांत पीस, हाथ उठा,
मुट्ठी बांध, कहता था,
"यह सब निर्बलता है—
मन की दुर्बलता है,
साहस की न्यूनता।

जगती के कटु बंधन
तोड़ क्यों न बिचरें हम,

विस्तृत वसुन्धरा की
वियत हरित छाती पर,
हो कर स्वतन्त्र क्यों न
विहरें जग-प्रांगण में,
खग ज्यों विहरते हैं
मुक्त गगन मध्य सदा।"

आकर आवेग में
उसने जब विस्मृत हो,
गूढ़ आलिङ्गन किया
सुभग ग्राम्य बाला का—

विद्युत सी दौड़ गई,
उसके तन मध्य तुरत
अश्लथ कुच फड़क उठे,
तड़क उठे अस्थि-जोड़,
दौड़ी थी रक्त की
लालिमा कपोलों पर,
मादकता पूर्ण हुए
उसके युग सजल नैन।

विस्मृत सब ज्ञान हुआ
कर स्पर्श पाते ही
चेतना विहीन हुए,
दोनों ही एक साथ,

उनको था ध्यान नहीं,
कि तकती है कृत्य यह,
चुप चुप सब मालती।

निद्रा से जागे वे दोनों
बस उसी काल,
क्रोधांध मालती
आई जब सामने।

सम्मन झट छोड़ उसे
भाग गया खेतों में,
किंतु नर्बदा थी खड़ी
नीरव, निस्पन्द, अडिग,
जकड़ लिये अवनी ने
उसके युग पैर मानो।

बैठ गई अवनी पर,
दे कर सिर घुटनों में,
लाज आ रही थी आज
उसको निज कृत्य पर।

स्तंभित थी, लज्जित थी,
थी वह निर्जीव निरी—
मिट्टी की प्रतिमा सी।

देख ही चुकी थी सब
दृश्य स्वयम् मालती,
नारी थी पर वह भी
खूब जानती थी वह,
कैसा छल छिद्र भरा पुरुष वर्ग होता है।

सम्मन से आज उसे
आंतरिक घृणा सी थी,
किंतु दबा उस सबको,
उसको जब पकड़ हाथ,
उसने उठाया ओह
कितनी शुचि स्नेहमयी
उसकी सखि मालती।

मीठी सी वाणी में
उसने बस कहा यही कि—
"भूल जाओ बीता है,
जो भी कुछ साथ में,
नूतन, नवीन जीवन
तुम को अब मिलेगा सखि!—

आशाएँ, इच्छाएँ
और सभी लालसाएँ,
उस ही में केन्द्रिभूत करके तुम करना सखि!
सुखद और फलीभूत
अपने उस जीवन को।"

किंतु क्या छोड़ दूँ,
सम्मन को ?
शैशव के साथी को ?
जीवन-आधार और
अपने सर्वस्व को ?............

"पर क्या यह संभव है ?"
पात पात चिल्लाया,
लता और वल्लरि ने
'ना' का संकेत किया,
मारुत भी चींख पड़ा
हरित हरित खेतों ने ध्वनित स्वर-लहरी की,
"यह सब असंभव है" "यह सब असंभव है"।

और भ्रांत नर्बदा ने,
त्याग कर दीर्घ श्वांस,
उन सब के उत्तर में,
कहा "हां असंभव है सम्मन को छोड़ना"।

उसी समय मालती ने,
तोड़ी विचार धारा,
"त्याग दे विचार सखी !
भूल जा अतीत, देख !
तुझको अब करना है,
कार्य वही जो कि आज,
तेरे मां बाप तुझे करने को कहते हैं।"

"जीवन की इच्छा क्या
पूर्ण कभी होती है ?
भोली सखि !
हम तो बलिदान जानती हैं बस,
तुम भी बलिदान करो,
अपने इस तन का
और मन की इच्छाओं का,
पुनर्जन्म आज रात समझो तुम मेरा है,
भूलो अतीत और उसकी मृदु गाथा को।"

"ला ! ला ! पहिनाऊँ तुझे
वस्त्र निज करों से मैं,
देख ! अब सावधान,
डिगियो निज पथ से मत,
भूल जा जो भी कुछ बीता है साथ में।"

चलित यंत्र भांति बाला,
कार्य कर रही थी सब,
जैसा भी उससे आ,
कोई कह देता था।

उन्नत से वृक्ष पर
सम्मनिया बैठा था,
कल से वह अपने घर
ओर भी गया न था,
उसको विश्वास था कि
बात फूट निकलेगी,
रजनी भर बैठा वह
सोचता रहा भविष्य,
अपने उस प्रेम का।

प्राची में फूट निकला
अरुण का प्रकाश मञ्जु,
रक्त वर्ण आनन ले
सूर्य ने प्रवेश किया
फिर से जग-प्रांगण में।

दूर दूर गांव से,
बहते हुए पथ से दूर
बैठा वह वृत्त पर,
तकता था वन्य प्रांत
हरित दकूल वाली प्रकृति-नटी के दृश्य ।

विस्तृत वसुन्धरा का
वियत वक्ष ढांपे हुए,
हरित दूर्वादल का
अञ्चल पड़ा था चारु,
जिस पर अवराजते थे
जल-मुक्ता-श्वेत हार
आभा अनूप भरे ।

और मृदु करों से रवि,
उनको था खेंच रहा,
मन ही मन पुलक प्रगट
करती थी धरित्री,
पाकर के दिनकर के कर का
स्पर्श मृदुल ।

"कल कल" निनाद करती,
भरती श्रवणों में सुखद राग
तटी बही जाती थी—

खेलती करारों से
इठलाती, बलखाती,
अतुलित पुलकाय मान।

मारुत आ छेड़ता था
अङ्ग उस तटी का मृदुल
ललक ललक हँसती थी
प्रगटा वह सलिल-ऊर्मि।

और वे तरङ्गे भी
आपस में क्रीड़ा कर,
हिल मिल कर,
टकरा कर,
हँस हँस कर, उछल उछल,
सलिल के धरातल पर,
नाच नाच मिटती थी,
किंतु प्रगट होती थीं
नव नूतन शक्ति धार
अल्प ही क्षणों में पुनि।

रूई के गालों से,
श्वेत शुभ्र अंग-धारी,
नभ में कुछ धाराधर
बढ़े चले जाते थे,

जाने किस ओर कहां
किसके संधान में ?
किंतु मार्ग ही में वे,
करते थे राग रङ्ग,
भरते थे नव उमंग,
अङ्ग निज संघर्षित
करते थे, हरते थे
मार्ग जनित तन स्ताप ।

तरुवर विशाल काय
उठते थे झूम झूम,
मारे प्रसन्नता के, मारुत से प्रेरित हो,
एक दूसरे के प्रति झुकते थे चाव भरे,
सिहर सिहर, हहर हहर,
बढ़ा बढ़ा अग्र भाग,
एक दूसरे का मृदु चुम्बन ले लेते थे ।

और पुनः पृथक पृथक
होते थे क्षण ही में,
स्पंदित कलेवर कर
कंपित निज पात पात,
नूतन नवीन जोश,
भर भर कर डालियों में ।

देखा पुनि भ्रमर एक,
"भूं भूं" कर घूमता था,
जाने क्या खोजता था,
व्याकुल मिलिन्द वहां,
अंत एक विकसित से—
पुष्प पर जा बैठा,
हँस हँस प्रसून ने भी,
स्वागत भ्रमर का किया,
खोल खोल हृदयस्तर
उसको स्थान दिया,
छुपा लिया उसका तन
अपने मृदुलाङ्क में,
कृत्य कृत्य भ्रमर हुआ,
स्नेह के झकोरों में
झूलने लगा नितांत।

दूर दूर्वादल से पूरित धरित्री के
समतल पर दीख पड़ा,
दम्पति मृगों का एक
उछल उछल,
कूद कूद,
करता रंग रेलियां।

एक दूसरे के मृदु
अङ्गों में मुहुर मुहुर

करते थे गुद गुदी
अपने मृदु श्रृङ्गों से।

पास ही विलोका पुनि,
अवनी पर कुछ अण्डज
जाने क्या ढूंढ,
फुदक फुदक, उड़ उड़ कर,
ठहर ठहर चुगते थे।

नर ने उठाया कुछ,
अपनी लघु चञ्चु मध्य,
और किसी मादा के,
मुख में जा रख दिया।

अतिशय अनुराग साथ—
खाकर खगी ने उसे,
खग के प्रति चोंच बढ़ा,
जाने क्या समझाया
मूक इङ्गितों में उसे।

किंतु तुरत उत्तर में
खग ने भी उसी भांति
अपनी लघु चञ्चु बढ़ा,
उस से स्पर्श किया,
शिथिल अङ्ग,
नेत्र बंद,

उनके कुछ दीख पड़े,
मानो वे करते थे
अनुभव सुख पारलौकिक।

सम्मन ने देखे ये
क्रम क्रम से दृश्य सभी,
देख, ली उसांस दीर्घ,
फेर लिया अन्य ओर
आनन निज दुखित हो,
किंतु उस तरफ भी थी
यह ही दृश्यावली।

आखिर वह बोल उठा—
"अहा! कितना आनन्द है?
प्रकृति-वियत प्राङ्गण में
कुसुम-भ्रमर,
विटप-लता,
करते हैं मेल नित्य,
और नित्य खेलते हैं
पशु, पक्षी युग्म बना।

प्रणय पालते हैं ये
प्रणय-कला-पारखी।

रोकती इन्हें न कभी
सभ्यता समाज आदि,
हैं ये स्वतन्त्र,
मुक्त इनका मृदु जीवन है।"

मानव कहता है,
"मैं उन्नत सुसंस्कृत हूँ,"
किंतु प्रकृति-नियमों की
करना अवहेलना,
आरोपण हृदयों पर
दुर्धर प्रतिबंधो का
सोचो क्या ठीक है ?

नहीं, नहीं, वर्षों तक
सीखनी पड़ेगी अभी
प्रणय-कला मानव को
प्रणय-पारखीयों से,
पशु-पक्षी-प्रकृति और
कुसुम-भ्रमर आदियों से।

हो कर निराश पुनः
गद् गद् निज कण्ठ से
लगा गाने वह राग एक,
दर्द और वेदना मिश्रित स्वर लहरी में।

दूर दूर उस पथ पर
जाती थी बरात एक
दुलहिन को लेकर के
स्यंदन में बन्द कर।

हारी सी,
खोई सी,
उस रथ में नर्बदा
बैठी थी चरण तल में
अपने शरीर और प्राणों के स्वामी के,
उनहीं के हाथों में
भाग्य-डोर सौंप अपनी।

निश्चल थी,
नीरव थी,
श्वांस किंतु चलती थी,
जलती थी ज्वाला सी
उसके अंतस्तल में,
पीती थी अश्रु बाल
शांत जिसे करने को,
किंतु वह असह्य हुई—
जाती थी पल पल में।

सहसा वह कातर ध्वनि,
वेदना प्रपूर्ण स्वर

सम्मन के गाने का,
आया द्रुत कानों में
मारुत को चीरता।

पीर सी उठती थी
उसकी उस ध्वनि को सुन
श्रोता के चित्त में।

सुन कर वह करुण ध्वनि
शांत रह सकी न तनिक,
फूट फूट रोने लगी
बाला वह जोर से
घुटनों में शीश छुपा।

और...... ....
वे प्राण नाथ,
हाथ फेर पीठ पर,
कहते थे—
"बस करो, बस करो !
रहने दो, रहने दो !"

मर्माहत नर्बदा !
दुखित चित्त नर्बदा !
लज्जामयी नर्बदा !

वेदना न सह सकी
रह सकी न शांत भी
और वह सकी न रो,
नीरव, निस्तब्ध,
रही पीती वह घूंट घूंट
भर भर कर वेदना की।

सौंकरते नारिये,
बढ़े चले जाते थे,
खींचे रथ वेग से।

"टनन टनन" बजती थीं,
घण्टियाँ गलों में बँधी,
"घरन घरन" घूमते थे,
रथ के सुचारु चक्र—

किंतु कहीं द्रुत गति से,
दुगने ही वेग से,
घूमता था नियति-चक्र,
सरल, सौम्य, स्नेहमयी,
नर्वदा सुग्राम्या का
नीरव,
निस्तब्ध,
और
बिना
किसी आहट के।

'ग्राम-बाला' के कवि की दूसरी महान् कृति!
धार्मिक जगत में क्रान्ति मचा देने वाला अद्भुत ग्रन्थ !!
[श्रीकृष्ण के जीवन पर एक अपूर्व महाकाव्य]

'योगिराज'

रचयिता—श्री कैलाशचन्द्र 'पीयूष' प्रभाकर

श्रीयुत 'पीयूष' जी ने श्रीकृष्ण के जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण से लिया है, जिसमें बुद्धिवाद और मानवता को प्रमुख स्थान देते हुये, उनके जीवन के गूढतम रहस्यों को सुलझाते हुए कवि ने जिस विस्तृत अध्ययन का परिचय दिया है, वस श्लाघ्य है, पठनीय है और अनिर्वचनीय है।

योगिराज में मानव अपनी शक्तियों को बढाकर देवता वना है न कि देवता अपनी शक्तियों को घटा कर मनुष्य। ४५० पृष्ठ का यह महाकाव्य इसी समस्या को तो सुलझाने के लिए आ रहा है।

कल्पना की ऊँची उड़ाने, भावुकता की भव्य झाँकियाँ और राष्ट्र के लिए आपके रक्त को उष्ण कर देने वाली सभी तो बातें आपको मिलेंगी। श्रीकृष्ण के दर्शन आप राजनीतिज्ञ, राष्ट्र-सेवक, सच्चे मित्र तथा विश्व प्रेम में निमज्जित महान् आत्मा के रूप में करेंगे। इस महाकाव्य को भिन्न-भिन्न प्रकार के मात्रिक, वर्णिक, तथा मुक्त-वृत्तों के प्रयोग ने और भी सरस बना दिया है। भाषा सरल, साहित्यिक तथा 'पीयूष' नाम को सार्थक करने वाली है। यह महाकाव्य आपके घरों की शोभा होगा, आपकी साहित्य-पठन की भूख मिटायेगा तथा युवक, युवती, वृद्ध, बाल आदि सभी के लिये एक महान देन सिद्ध होगा। शीघ्र ही पाठकों की भेंट होने वाला है।